# सूत्रकृतांग में वर्णित दार्शनिक विचार

*डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय*

द्वितीय अंग आगम सूत्रकृतांग सूत्र में बंधन से मुक्त होने का मार्ग प्रस्तुत करते हुए अपरिग्रह, अहिंसा, प्रत्याख्यान आदि आचार–सिद्धान्तों को अपनाने पर बल प्रदान करने के साथ तत्कालीन विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं का उल्लेख कर उनका निराकरण भी किया गया है। डॉ. पाण्डेय ने अपने लेख में सूत्रकृतांग में चर्चित दार्शनिक मान्यताओं का व्यवस्थित विवेचन किया है। उनका आलेख मुख्यतः इस सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन पर आधृत है। इस अध्ययन में आए धर्म एवं आचार संबंधी विषयों की भी उन्होंने विवेचना की है। —**सम्पादक**

---

समग्र भारतीय संस्कृति एवं विचारधारा का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक विकास एवं लोक कल्याण रहा है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन, जिसका मूल स्वर अध्यात्मवाद है, की रुचि किसी काल्पनिक एकांत में न होकर मानव समुदाय के कल्याण में रही है। भारतीय दर्शन की दो प्रमुख धाराओं– वैदिक एवं अवैदिक में से, अवैदिक धारा के प्रतिनिधि जैनदर्शन में आत्मवाद, कर्मवाद, परलोकवाद एवं मोक्षवाद का विशद विवेचन मिलता है। इन चारों सिद्धान्तों में भारतीय दर्शनों की मूल प्रवृत्तियां समाविष्ट हैं। भारतीय परम्परा के अनुरूप जैन दर्शन भी लौकिक जीवन को दुःखमय मानते हुए दुःखों से आत्यंतिक निवृत्ति को ही अपना लक्ष्य मानता है।

आगम ही जैन परम्परा के वेद एवं पिटक हैं। ये अंग, उपांग, मूलसूत्र, छेदसूत्र, चूलिका एवं प्रकीर्णकों में वर्गीकृत हैं। समस्त जैन सिद्धान्त बीजरूप में इनमें निहित हैं। काल की दृष्टि से अंग प्राचीनतम हैं। वर्तमान उपलब्ध ११ अंगों में सूत्रकृतांग द्वितीय है। यह ग्रन्थ स्वसमय (स्वसिद्धान्त) और पर समय (पर सिद्धान्त) का ज्ञान (सत्यासत्य दर्शन) कराने वाला शास्त्र है।[१] श्रुतपारगामी आचार्य भद्रबाहु ने इसे श्रुत्वाकृत= सूतकडं अर्थात् तीर्थंकर वाणी सुनकर गणधरों द्वारा शास्त्ररूप प्रदत्त बताया है। इसमें तत्कालीन अन्य दार्शनिक मतों की युक्तिरहित अयथार्थ मान्यताओं का उल्लेख तथा निरसन तो किया गया है, परन्तु किसी मत के प्रवर्त्तक का नामोल्लेख नहीं है। मिथ्या व अयथार्थ धारणाओं को बंधन मानकर साधक को सत्य का यथार्थ परिबोध कराना शास्त्रकार का मुख्य ध्येय है। सूत्रकृतांग की प्रमुख विशेषता दर्शन के साथ जीवन व्यवहार का उच्च आदर्श स्थापित करना है।

सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध में मुख्यतः अन्य मतवादों का खण्डन किया गया है जो दूसरे श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन में भी वर्णित हैं। द्वितीय श्रुतस्कंध जो अधिकांशतः गद्य में है लगभग उन्हीं विषयों की व्याख्या करता है जो प्रथम श्रुतस्कंध में हैं। दूसरे शब्दों में इसे प्रथम श्रुतस्कंध का पूरक कहा जा सकता है। दूसरे श्रुतस्कंध में मुख्यतः नवदीक्षित श्रमणों के आचार का वर्णन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत निबंध में हम सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन के आरंभिक चार उद्देशकों में निहित दार्शनिक एवं आचारगत मान्यताओं और सिद्धान्तों का अनुशीलन करेंगे। वे इस प्रकार हैं– बंधन का स्वरूप, पंचमहाभूतवाद, एकात्मवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, अकारकवाद, आत्मषष्ठवाद, क्षणिकवाद, सांख्यादिमत की निस्सारता, नियतिवाद, अज्ञानवाद, क्रियावाद, जगत्कर्तृत्ववाद, अवतारवाद, स्वस्वप्रवाद–प्रशंसा, मुनिधर्मोपदेश, लोकवाद, अहिंसा महाव्रत एवं चारित्र शुद्धि-उपाय।

सूत्रकृतांग[२] की आदि गाथा के चार पदों में ग्रन्थ के सम्पूर्ण तत्त्व-चिंतन का सार समाविष्ट है–

**बंधणं परिजाणिया**– बंधन को जानकर
**बुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा**– समझो और तोड़ो
**किमाह बंधणं वीरे**– भगवान ने बंधन किसे बताया है?
**किं वा जाणं तिउट्टइ**– और उसे कैसे तोड़ा जा सकता है?

वस्तुतः इन पदों में दर्शन और धर्म, विचार और आचार बीजरूप में सन्निहित हैं। शास्त्रकार ने आदिपद में बोध-प्राप्ति का, जिसका तात्पर्य आत्मबोध से है, उपदेश किया है। बोध-प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, यह तथ्य सूत्रकृतांग, आचारांग, उत्तराध्ययन[३] आदि आगमों में भी परिलक्षित होता है। बोध-प्राप्ति एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों को दुर्लभ है। आर्यक्षेत्र, उत्तमकुलोत्पन्न, परिपूर्ण-अंगोपांग एवं स्वस्थ सशक्त शरीर से युक्त दीर्घायुष्य को प्राप्त मनुष्य ही केवल बोधिप्राप्ति का अधिकारी है। आत्मबोध का अर्थ है– 'मैं कौन हूं'? मनुष्य लोक में कैसे आया? आत्मा तत्त्वतः बंधन रहित होते हुए भी इस प्रकार के बंधन में क्यों पड़ी? बंधनों को कौन और कैसे तोड़ सकता है?

**बंधन का स्वरूप**– संसारी आत्मा कर्मों से जकड़ी होने के कारण परतन्त्र है, इसी परतन्त्रता का नाम बंध है।[४] उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र[५] में 'कषाययुक्त जीव द्वारा कर्मयोग्य पुद्गलों का ग्रहण करना बंध है' ऐसा कहा है। तत्त्वार्थवृत्तिकार अकलंकदेव के अनुसार आत्मप्रदेशों के साथ जो कर्म क्षीर नीरवत् एक होकर स्थित हो जाते हैं, रहते हैं या बंध जाते हैं, वे बंधन या बंध कहलाते हैं।[६] अकलंक देव के अनुसार सामान्य की अपेक्षा से बंध के भेद नहीं किये जा सकते अर्थात् इस दृष्टि से बंध एक ही प्रकार का है। किन्तु विशेष की अपेक्षा से बंध दो प्रकार है– १. द्रव्यबंध और २. भावबंध।[७]

**द्रव्यबंध**– ज्ञानावरणीयादि कर्म-पुद्गल प्रदेशों का जीव के साथ संयोग द्रव्यबंध है।[८]

**भावबंध**– आत्मा के अशुद्ध चेतन परिणाम (भाव) मोह राग–द्वेष और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रोधादि जिनसे ज्ञानावरणीय कर्म के योग्य पुद्गल परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं, भावबंध कहलाता है।[९] आचार्य नेमिचन्द्र कर्मबंध के कारणभूत चेतन-परिणाम को भावबंध मानते हैं।[१०]

**कर्मबंध के कारण**– जैन दर्शन में बंध के कारणों की संख्या के विषय में मतैक्य नहीं है, एक ओर आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार[११] में वैदिक दर्शनों की तरह अज्ञान को ही बंध का प्रमुख कारण बतलाया है तो दूसरी ओर स्थानांग, समवायांग एवं तत्त्वार्थसूत्र में कर्मबन्ध के पाँच कारण माने गये हैं, जो अधिक प्रचलित हैं–

१. मिथ्यादर्शन २. अविरति ३. प्रमाद ४. कषाय ५. योग।

**1. मिथ्यादर्शन**– जो वस्तु जैसी है, उसे उस रूप में न मानकर विपरीत रूप में मानना या ग्रहण करना मिथ्यात्व है। दूसरे शब्दों में सम्यग्दर्शन का उल्टा मिथ्यादर्शन है। भगवतीआराधना[१२] एवं सर्वार्थसिद्धि में भी जीवादि पदार्थों का श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन बताया गया है।

**2. अविरति**– विरति का अभाव ही अविरति है। सर्वार्थसिद्धिकार ने विरति का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह ये पाँच त्याज्य हैं, अतः हिंसा आदि पाँच पापों को नहीं छोड़ना या अहिंसादि पाँच व्रतों का पालन न करना अविरति है।[१३] सूत्रकृतांग की चौथी व पाँचवी गाथा में जीव को परिग्रह के दो रूप—सचेतन एवं अचेतन से सचेत किया गया है। मनुष्य, पशु—पक्षी आदि प्राणियों में आसक्ति रखना सचेतन परिग्रह व सोना—चांदी, रूपया—पैसा में आसक्ति रखना अचेतन परिग्रह है। परिग्रह चूंकि कर्मबंध का मूल है, इसलिए वह दुःख रूप है।

**3. प्रमाद**– प्रमाद का अर्थ है क्रोधादि कषायों के कारण अहिंसा आदि के आचरण में जीव की रुचि नहीं होना। वीरसेन ने क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषायों और हास्य आदि नौ उप कषायों के तीव्र उदय होने को प्रमाद कहा है।[१४]

**4. कषाय**– आत्मा के कलुष परिणाम जो कर्मों के बंधन के कारण होते हैं, कषाय कहलाते हैं।[१५]

**5. योग**– मन, वचन और काय से होने वाला आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन योग है।[१६] इन्हीं के कारण कर्मों का आत्मा के साथ संयोग होता है।

**बंध–उच्छेद**– 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' अर्थात् जैन दर्शन मुक्ति हेतु ज्ञान एवं क्रिया दोनों को आवश्यक मानता है। कर्मबन्ध-उच्छेद हेतु दो विधियों का प्रतिपादन किया गया है– १. नवीन कर्मबंध को रोकना संवर[१७] एवं २. आत्मा से पूर्वबद्ध कर्मों को, उनके विपाक के पूर्व ही तपादि द्वारा अलग करना निर्जरा है।[18] संवर व निर्जरा से कर्मबंध का उच्छेद हो जाना ही मोक्ष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## पंचमहाभूतवाद या भूतचैतन्यवाद

गाथा संख्या सात व आठ में वर्णित इस मत का नामोल्लेख नहीं है। निर्युक्तिकार इसे चार्वाक मत कहते हैं। अवधेय है कि ४ तत्त्व– १. पृथ्वी २. जल ३. तेज और ४. वायु को मानना प्राचीन लोकायतों का मत है, जबकि अर्वाचीन चार्वाक मतानुयायी पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वों को मानते हैं। ये पाँच महाभूत सर्वलोकव्यापी एवं सर्वजन प्रत्यक्ष होने से महान् हैं। इनका अस्तित्व व्यपदेश खण्डन से परे है। इस प्रकार सूत्रकृतांग में अपेक्षाकृत अर्वाचीन चार्वाकों का मतोल्लेख है। यद्यपि सांख्य व वैशेषिक दार्शनिक भी पंचमहाभूतों को मानते हैं, परन्तु ये चार्वाकों के समान इन पंचमहाभूतों को ही सब कुछ नहीं मानते। सांख्य-मत पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय एवं पंचतन्मात्राओं की सत्ता को स्वीकारता है। वैशेषिक दिशा, काल, आत्मा, मन आदि अन्य पदार्थों की भी सत्ता मानता है। चार्वाक दार्शनिक पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों के शरीर–रूप में परिणत होने के कारण चैतन्य की उत्पत्ति भी इन्हीं पंचमहाभूतों से मानते हैं। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार गुड़, महुआ आदि के संयोग से मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है[१९] उसी प्रकार इन भूतों के संयोग से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। चूंकि ये भौतिकवादी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं मानते, इसलिये दूसरे मतवादियों द्वारा मान्य इन पंचमहाभूतों से भिन्न परलोकगामी और सुख-दु:ख के भोक्ता किसी आत्मा संज्ञक पदार्थ को नहीं मानते। इस अनात्मवाद से ही शरीरात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मनसात्मवाद, प्राणात्मवाद एवं विषयचैतन्यवाद फलित हैं, जिसे कतिपय चार्वाक दार्शनिक मानते हैं।

निर्युक्तिकार[२०] ने इस वाद का खण्डन किया है। अपने मत के समर्थन में निर्युक्तिकार का तर्क है कि पृथ्वी आदि पंचभूतों के संयोग से चैतन्यादि उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि शरीर के घटक रूप इन पंचमहाभूतों में से किसी में भी चैतन्य नहीं है। अन्य गुण वाले पदार्थों के संयोग से अन्य गुण वाले पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती। बालू में स्निग्धता न होने से उसमें से तेल नहीं निकल सकता। उसी प्रकार स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र रूप पाँच इन्द्रियों के जो उपादानकारण हैं, उनका गुण भी चैतन्य न होने से भूतसमुदाय का गुण चैतन्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त एक इन्द्रिय के द्वारा जानी हुई बात दूसरी इन्द्रिय नहीं जान पाती तो फिर मैंने सुना, देखा, चखा, सूंघा इस प्रकार का संकलन रूप ज्ञान किसको होगा? परंतु यह संकलन ज्ञान अनुभव सिद्ध है। इससे प्रमाणित होता है कि भौतिक इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञाता है जो पाँचों इन्द्रियों द्वारा जानता है और वही तत्त्व आत्मा है। यह आत्मा द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है।

सूत्रकृतांग के दूसरे श्रुतस्कन्ध के प्रथम ''पुण्डरीक'' नामक अध्ययन के दसवें सूत्र में भी शास्त्रकार ने द्वितीय पुरुष के रूप में पंचमहाभूतिकों की चर्चा की है एवं सांख्य दर्शन को भी परिगणित किया है। यद्यपि सांख्यवादी पूर्वोक्त पाँचमहाभूत तथा छठे आत्मा को भी मानता है तथापि वह पंचमहाभूतिकों से भिन्न नहीं है, क्योंकि सांख्य दर्शन आत्मा को निष्क्रिय मानकर पंचमहाभूतों को उत्पन्न करने वाली प्रकृति को ही समस्त कार्यों का कर्ता मानता है। आत्मा को सांख्य अकर्ता मानता है। सांख्यदर्शन पुरुष या आत्मा को प्रकृति द्वारा किये हुए कर्मों का फल- भोक्ता और बुद्धि द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों को प्रकाशित करने वाला मानता है। इसलिए ''से किणं किणाविमाणे, हणं घायमाणे..........णत्थित्थ दोसो''[२१] अर्थात् सांख्य के आत्मा को भारी से भारी पाप करने पर भी उसका दोष नहीं लगता, क्योंकि वह निष्क्रिय है। शास्त्रकार कहता है कि यह मत निःसार एवं युक्तिरहित है, क्योंकि अचेतन प्रकृति विश्व को कैसे उत्पन्न कर सकती है। जो स्वयं ज्ञान रहित एवं जड़ है तथा सांख्य की दृष्टि में जो वस्तु है ही नहीं वह कभी नहीं होती और जो है उसका अभाव नहीं होता तो जिस समय प्रकृति और पुरुष दो ही थे उस समय यह सृष्टि तो थी ही नहीं फिर यह कैसे उत्पन्न हो गयी। इसका कोई उत्तर सांख्य के पास नहीं है। इस प्रकार लोकायतों का पंचमहाभूतवाद एवं सांख्यों का आंशिक पंचमहाभूतवाद दोनों ही मिथ्या हैं।

**तज्जीवतच्छरीरवाद**— तज्जीवतच्छरीरवाद[२२] चार्वाकों के अनात्मवाद का फलित रूप है। वे मानते हैं कि वही जीव है, वही शरीर है।[२३] पंचमहाभूतवादीमत में पंचमहाभूत ही शरीर के रूप में परिणत होकर दौड़ने, बोलने आदि सभी क्रियाएँ करते हैं जबकि तज्जीवतच्छरीरवादी पंचभूतों से परिणत शरीर से ही चैतन्यशक्ति की उत्पत्ति मानता है। शरीर से आत्मा को वह अभिन्न मानता है। इस मत में शरीर के रहने तक ही अस्तित्व है। शरीर के विनष्ट होते ही पंचमहाभूतों के बिखर जाने से आत्मा का भी नाश हो जाता है। शरीर के विनष्ट होने पर उससे बाहर निकलकर कहीं अन्यत्र जाता हुआ चैतन्य प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, इसलिए कहा गया है कि— ण ते संति[२४] अर्थात् मरने के बाद आत्माएँ परलोक में नहीं जाती।

निर्युक्तिकार दोनों मतों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि पंचमहाभूतों से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इनमें से किसी का भी गुण चैतन्य नहीं है। अन्य गुण वाले पदार्थों के संयोग से अन्य गुण वाले पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[२५] शास्त्रवार्तासमुच्चय[२६] में हरिभद्र एवं तत्त्वार्थवार्तिक में अकलंकदेव ने कहा है कि यदि मद्यादि चैतन्य शरीर के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म हैं तो मृत शरीर में भी रूपादि गुणों की भांति चेतना विद्यमान होनी चाहिए, पर ऐसा नहीं है। शरीरात्मवादियों के 'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्' के दृष्टान्त की विषमता सिद्ध करते हुए कहा गया है कि मदिरा के घटक में ही मदिरा रहती है, परन्तु किसी भी भूत में चैतन्य नहीं रहता। अतः यह मत असंगत है। निर्युक्तिकार का कथन है कि यदि देह के विनाश के साथ आत्मा का विनाश माना जाय तो मोक्षप्राप्ति के लिये किये जाने वाले ज्ञान, दर्शन, चारित्र, संयम, व्रत, नियम, साधना आदि निष्फल हो जायेंगे। अतः पंचमहाभूतवाद का सिद्धान्त मिथ्यात्वग्रस्त एवं अज्ञानमूलक है।

**एकात्मवाद**[२७]–वेदान्ती ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त पदार्थों को असत्य मानते हैं, दूसरे शब्दों में चेतन-अचेतन सब ब्रह्म (आत्मा) रूप है।[२८] शास्त्रकार कहते हैं कि नाना रूप में भासित पदार्थों को भी एकात्मवादी दृष्टान्त द्वारा आत्मरूप सिद्ध करते हैं। जैसे पृथ्वी समुदाय रूप पिण्ड एक होते हुय भी नदी, समुद्र,पर्वत, नगर, घट आदि के रूप में नाना प्रकार का दिखाई देता है, किन्तु इन सब भेदों के बावजूद इनमें व्याप्त पृथ्वी तत्त्व का भेद नहीं होता। उसी प्रकार एक ज्ञान पिण्ड आत्मा ही चेतन–अचेतन रूप समग्रलोक में पृथ्वी, जल आदि भूतों के आकार में नानाविध दिखाई देता है, परन्तु आत्मा के स्वरूप में कोई भेद नहीं होता। वह प्राणातिपात हिंसा में आसक्त स्वयं पाप करके दुःख को आमंत्रित करता है, क्योंकि एकात्मवाद की कल्पना युक्ति रहित है। अनुभव से यह सिद्ध है कि सावद्य अनुष्ठान करने में जो आसक्त रहते हैं, वे ही पापकर्म के फलस्वरूप नरकादि को भोगते हैं, दूसरे नहीं।

सूत्रकृतांग एकात्मवाद को युक्तिहीन बताते हुए उसका खण्डन करता है–

१. उसके अनुसार एकात्मवाद में एक के द्वारा किये गये शुभ या अशुभ कर्म का फल दूसरे सभी को भोगना पड़ेगा जो कि अनुचित एवं अयुक्तियुक्त है।
२. एकात्मवाद में एक के कर्मबन्धन होने पर सभी कर्म बंधन से बद्ध और एक के मुक्त होने पर सभी मुक्त हो जायेंगे और इस प्रकार बंधन एवं मोक्ष की अव्यवस्था हो जायेगी।
३. एकात्मवाद में देवदत्त को प्राप्त ज्ञान यज्ञदत्त को होना चाहिए एवं उसी प्रकार एक के जन्म लेने या मरने पर सभी का जन्म लेना या मरना सिद्ध होगा जो कथमपि संभव नहीं है।
४. इसके अतिरिक्त जड़ और चेतन सभी में एक ही आत्मा मानने पर जड़ व चैतन्य में भेद ही नहीं रह जायेगा तथा जिसे शास्त्र का उपदेश दिया जाता है एवं जो शास्त्र का उपदेष्टा है दोनों में भेद न हो सकने के कारण शास्त्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की रचना कैसे होगी।

अत: एकात्मवाद अयुक्तियुक्त है, क्योंकि "एगे किच्चा सयं पावं तिव्वं दुक्खं णियच्छइ"[२९] अर्थात् जो पाप कर्म करता है उसे अकेले ही उसके फल में तीव्र दु:ख को भोगना पड़ता है।

**अकारकवाद या अकर्तृत्ववाद**[३०] – सांख्य-योगमतवादी आत्मा को अकर्ता मानते हैं। उनके मत में आत्मा या पुरुष अपरिणामी एवं नित्य होने से कर्ता नहीं हो सकता। शुभ–अशुभ कर्म प्रकृति-कृत होने से वही कर्ता है। आत्मा अमूर्त, कूटस्थ,नित्य एवं स्वयं क्रियाशून्य होने से कर्त्ता नहीं हो सकता।[३१] शास्त्रकार की इसके विरुद्ध आपत्ति इस प्रकार है–

आत्मा को एकान्त,.कूटस्थ, नित्य, अमूर्त, सर्वव्यापी एवं निष्क्रिय मानने पर प्रत्यक्ष दृश्यमान, जन्मरणरूप या नरकादि गमनरूप यह लोक सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि कूटस्थ नित्य आत्मा एक शरीर व योनि को छोड़कर दूसरे शरीर व योनि में संक्रमण नहीं कर सकेगा। साथ ही एक शरीर में बालक, वृद्ध, युवक आदि पर्यायों को धारण करना भी असंभव होगा। वह आत्मा सर्वदा कूटस्थ नित्य होने पर विकार रहित होगा और बालक तथा मूर्ख सदैव बालक व मूर्ख ही बना रहेगा, उसमें किसी नये स्वभाव की उत्पत्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में जन्म-मरणादि दु:खों का विनाश, उसके लिए पुरुषार्थ, एवं कर्मक्षयार्थ, जप–तप, संयम–नियम आदि की साधना संभव नहीं होगी। सांख्य के प्रकृति कर्तृत्व एवं पुरुष के भोक्ता होते हुए भी कर्ता न मानने को लेकर अनेक जैनाचार्यों ने इस सिद्धान्त को अयुक्तियुक्त बताया है।[३२]

**आत्मषष्ठवाद**[३३]– आत्मषष्ठवाद वेदवादी सांख्य व वैशेषिकों का मत है। प्रो. हर्मन जैकोबी इसे चरक का मत मानते हैं। इनके अनुसार अचेतन पंचमहाभूत एवं सचेतन आत्मा ये छ: पदार्थ हैं। आत्मा और लोक दोनों नित्य हैं। इन छ: पदार्थों का सहेतुक या अहेतुक किसी प्रकार से विनाश नहीं होता। इनके मत में असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती और सत् का कभी विनाश नहीं होता एवं सभी पदार्थ सर्वथा नित्य हैं। बौद्ध ग्रन्थ 'उदान' में आत्मा और लोक को शाश्वत मानने वाले कुछ श्रमण-ब्राह्मणों का उल्लेख है। बौद्धदर्शन में पदार्थ की उत्पत्ति के पश्चात् तत्काल ही निष्कारण विनाश होना माना जाता है। अत: उत्पत्ति के अतिरिक्त विनाश का कोई अन्य कारण नहीं है। आत्मषष्ठवादी इस अकारण विनाश को नहीं मानते और न ही वैशेषिक दर्शन के अनुसार बाह्य कारणों से माने जाने वाले सहेतुक विनाश को ही मानते हैं। तात्पर्यत: आत्मा या पंचभौतिक लोक अकारण या सकारण दोनों प्रकार से विनष्ट नहीं होते। ये चेतनाचेतनात्मक दोनों कोटि के पदार्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने—अपने स्वभाव से अच्युत रहकर सर्वदा नित्य रहते हैं।

भगवद्गीता[३४] में आत्मा की त्रिकालाबाधित नित्यता को बताते हुये कहा गया है कि 'जो असत् है वह हो ही नहीं सकता और जो है (सत्) उसका अभाव नहीं हो सकता।' इसी प्रकार सांख्य सत्कार्यवाद[३५] के आधार पर आत्मा और लोक की नित्यता सिद्ध करता है।

जैनदर्शन की मान्यता है कि सभी पदार्थों को सर्वथा या एकान्त नित्य मानना यथार्थ नहीं है। इसलिये आत्मा को एकान्त नित्य सत् या असत् मानना असंगत है, क्योंकि ऐसा मानने से आत्मा में कर्तृत्व परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकता। कर्तृत्व के अभाव में कर्मबन्धन न होने से सुख—दु:ख रूप कर्मफल भोग भी नहीं हो सकता। अत: आत्मा, पंचभूत आदि सभी पदार्थों को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य तथा किसी अपेक्षा से सत् एवं किसी अपेक्षा से असत् अर्थात् सदसत्कार्य रूप न मानकर, एकान्त मिथ्या ग्रहण करना ही आत्मषष्ठवादियों का मिथ्यात्व है। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य रूप से सत् और पर्याय रूप से असत् या अनित्य है[३६], ऐसा सत्यग्राही व्यक्ति (जैन) मानते है। यहां शास्त्रकार ने अनेकान्तवाद की कसौटी पर आत्मषष्ठवादी सिद्धान्त को कसने का सफल प्रयास किया है।

**क्षणिकवाद**[३७]— बौद्धदर्शन का 'अनात्मवाद' क्षणिकवाद एवं प्रतीत्यसमुत्पाद पर निर्भर है। यह अनात्मवाद सर्वथा तुच्छाभावरूप नहीं है, क्योंकि आत्मवादियों की तरह पुण्य-पाप, कर्म-कर्मफल, लोक-परलोक, पुनर्जन्म एवं मोक्ष की यहां मान्यता और महत्ता है। दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त[३८] और मज्झिमनिकाय के सव्वासव्वसुत्त[३९] के अनुसार महात्मा बुद्ध के समय में आत्मवाद की दो विचारधाराएं प्रचलित थीं— प्रथम शाश्वत आत्मवादी विचारधारा— जो आत्मा को नित्य मानती थी एवं दूसरी उच्छेदवादी विचारधारा जो आत्मा का उच्छेद अर्थात् उसे अनित्य मानती थी। बुद्ध ने इन दोनों का खण्डन कर अनात्मवाद का उपदेश किया, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उन्हें आत्मा में विश्वास नहीं था। वे आत्मा को नित्य और व्यापक न मानकर क्षणिक चित्तसंतति रूप में स्वीकार करते थे।

विसुद्धिमग्ग, सुत्तपिटकगत अंगुत्तरनिकाय आदि बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार क्षणिकवाद के दो रूप हैं— एक मत रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पंचस्कन्धों से भिन्न या अभिन्न सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष व ज्ञानादि के आधारभूत आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं मानता है। इन पंचस्कन्धों से भिन्न आत्मा का न तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है, न ही आत्मा के साथ अविनाभाव संबंध रखने वाला कोई लिंग ही गृहीत होता है, जिससे आत्मा अनुमान द्वारा जानी जा सके। ये पंचस्कंध क्षणभोगी हैं, न तो ये कूटस्थ नित्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं और न ही कालान्तर स्थायी, बल्कि क्षणमात्र स्थायी हैं। ये सत् हैं इसीलिए क्षणिक हैं। सत् का लक्षण अर्थक्रिया-कारित्व है एवं जो सत् है वह क्षणिक ही है।

क्षणिकवाद का दूसरा रूप इन चार धातुओं—पृथ्वी, जल, तेज और वायु को स्वीकार करता है। ये चारों जगत् का धारण-पोषण करते हैं, इसलिये धातु कहलाते हैं।[४८] वे चारों एकाकार होकर भूतसंज्ञक रूप स्कंध बन जाते हैं एवं शरीर रूप में जब परिणत हो जाते हैं तब इनकी जीव संज्ञा होती है। जैसा कि वे कहते हैं— 'यह शरीर चार धातुओं से बना है, इनसे भिन्न आत्मा नहीं हैं। यह भूतसंज्ञक रूपस्कंधमय होने के कारण पंचस्कन्धों की तरह क्षणिक है।' यह चातुर्धातुकवाद भी क्षणिकवाद का ही एक रूप है जो सुत्तपिटक के मज्झिमनिकाय में वर्णित है।

वृत्तिकार शीलांक के अनुसार ये सभी बौद्ध मतवादी अफलवादी हैं। बौद्धों के क्षणिकवाद के अनुसार पदार्थ, आत्मा और सभी क्रियाएँ क्षणिक हैं। इसलिए क्रिया करने के क्षण में ही कर्त्ता आत्मा का समूल विनाश हो जाता है, अतः आत्मा का क्रियाफल के साथ कोई संबंध नहीं रहता। जब फल के समय तक आत्मा भी नहीं रहती और क्रिया भी उसी क्षण नष्ट हो गयी तो ऐहिक पारलौकिक क्रियाफल का भोक्ता कौन होगा? पंचस्कन्धों या पंचभूतों से भिन्न आत्मा न होने पर आत्मा रूप फलोपभोक्ता नहीं होगा। ऐसी स्थिति में सुख—दुःखादि फलों का उपभोग कौन करेगा? साथ ही आत्मा के अभाव में बंध-मोक्ष, जन्म-मरण, लोक-परलोकगमन की व्यवस्था गड़बड़ हो जायेगी और शास्त्रविहित समस्त प्रवृत्तियाँ निरर्थक हो जायेंगी।

शास्त्रकार जैनदर्शनसम्मत आत्मा की युक्ति—युक्तता के विषय में कहते हैं कि यह परिणामी नित्य, ज्ञान का आधार, दूसरे जीवों में आने—जाने वाला, पंचभूतों से कथंचित् भिन्न तथा शरीर के साथ रहने से कथंचित् अभिन्न है। वह स्वकर्मबंन्धों के कारण विभिन्न नरकादि गतियों में संक्रमण करता रहता है इसलिये अनित्य एवं सहेतुक भी है। आत्मा के निज स्वरूप का कथमपि नाश न होने कारण वह नित्य और अहेतुक भी है। ऐसा मानने में कर्त्ता को क्रिया का सुख व दुःखादिरूप फल भी प्राप्त होगा एवं बन्ध-मोक्षादि व्यवस्था की उपपत्ति भी हो जायेगी।

**सांख्यादिमतनिस्सारता एवं फलश्रुति**[४९]— सांख्यादि दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित मुक्ति-उपाय की आलोचना करते हुये शास्त्रकार का मत है कि पंचभूतात्मवादी से लेकर चातुर्धातुकवादी पर्यन्त सभी दर्शन सबको सर्वदुःखों से मुक्ति का आश्वासन देते हैं। प्रश्न यह है कि क्या उनके दार्शनिक मन्तव्यों को स्वीकार कर लेना ही दुःखमुक्ति का यथार्थ मार्ग है? कदाचित् नहीं। बल्कि महावीर द्वारा प्ररूपित सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप द्वारा कर्म क्षय कर कर्मबन्ध के कारणों– मिथ्यात्त्व, अविरति, कषाय, प्रमाद एवं योग से दूर रहना ही सर्वदु:ख-मुक्ति का मार्ग है। उपर्युक्त मतवादी स्वयं दु:खों से आवृत्त हैं क्योंकि वे संधि[४२] को जाने बिना क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं, परिणामस्वरूप धर्म तत्त्व से अनभिज्ञ रहते हैं। जब तक जीवन में कर्मबन्ध का कारण रहेगा तब तक मनुष्य चाहे पर्वत पर चला जाये या कहीं रहे– वह जन्म–मृत्यु, जरा–व्याधि, गर्भवासरूप संसारचक्र परिभ्रमण के महादु:खों का सर्वथा उच्छेद नहीं कर सकता।[४३] ऐसे जीव ऊँच–नीच गतियों में भटकते रहते हैं, क्योंकि एक तो वे स्वयं उक्त मिथ्यावादों के कदाग्रहरूप मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं, दूसरे हजारों जनसमुदाय के समक्ष मुक्ति का प्रलोभन देकर उन्हें मिथ्यात्व विष का पान कराते हैं।

**नियतिवाद**[४४]– नियतिवाद आजीविकों का सिद्धान्त है। मंखलिपुत्तगोशालक नियतिवाद एवं आजीवक सम्प्रदाय का प्रवर्तक था। सूत्रकृतांग के प्रथमश्रुतस्कन्ध में गोशालक या आजीवक का नामोल्लेख नहीं है, परन्तु उपासकदशांग के सातवें अध्ययन के सद्दालपुत्र एवं कुण्डकोलिय प्रकरण में गोशालक और उसके मत का स्पष्ट उल्लेख है। इस मतानुसार उत्थान, कर्मबल, वीर्य, पुरुषार्थ आदि कुछ भी नहीं हैं। सब भाव सदा से नियत हैं। बौद्धग्रंथ दीघनिकाय, संयुक्तनिकाय आदि में तथा जैनागम स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञति, औपपातिक आदि में भी आजीवक मतप्रवर्त्तक नियतिवादी गोशालक का वर्णन उपलब्ध है।[४५]

नियतिवादी जगत् में सभी जीवों का पृथक व स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हैं। परन्तु आत्मा को पृथक्–पृथक् मानने पर भी नियतिवाद के रहते जीव स्वकृत कर्मबंध से प्राप्त सुख-दु:खादि का भोग नहीं कर सकेगा और न ही सुख–दु:ख भोगने के लिये अन्य शरीर, गति तथा योनि में संक्रमण कर सकेगा। शास्त्रवार्तासमुच्चय में नियतिवाद के संबंध में कहा गया है कि चूंकि संसार के सभी पदार्थ स्व–स्व नियत स्वरूप से उत्पन्न होते हैं अत: ये सभी पदार्थ नियति से नियमित होते हैं। यह समस्त चराचर जगत् नियति से बंधा हुआ है। जिसे, जिससे, जिस रूप में होना होता है, वह उससे, उसी समय, उसी रूप में उत्पन्न होता है। इस प्रकार अबाधित प्रमाण से सिद्ध इस नियति की गति को कौन रोक सकता है? कौन इसका खंडन कर सकता है? नियतिवाद काल, स्वभाव, कर्म और पुरुषार्थ आदि के विरोध का भी युक्तिपूर्वक निराकरण करता है। नियतिवादी एक ही काल में दो पुरुषों द्वारा सम्पन्न एक ही कार्य में सफलता–असफलता, सुख–दु:ख का मूल नियति को ही मानते हैं। इस प्रकार उनके मत में नियति ही समस्त जागतिक पदार्थों का कारण है।[४६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांगकार उक्त मत का खण्डन करते हुये कहते हैं कि नियतिवादी यह नहीं जानते हैं कि सुख–दु:खादि सभी नियतिकृत नहीं होते। कुछ सुख–दु:ख नियतिकृत होते हैं, क्योंकि उन–उन सुख–दु:खों के कारणरूप कर्म का अबाधा काल समाप्त होने पर अवश्य उदय होता ही है, जैसे– निकाचित कर्म[४७] का, परन्तु अनेक सुख–दु:ख पुरुष के उद्योग, काल, स्वभाव और कर्म द्वारा किये हुये होते हैं और नियत नहीं होते। अत: केवल नियति ही समस्त वस्तुओं का कारण है, ऐसा मानना कथमपि युक्तिसंगत नहीं है। काल, स्वभाव, अदृष्ट, नियति और पुरुषार्थ ये पाँचों कारण प्रत्येक कार्य या सुखादि में परस्पर सापेक्ष सिद्ध होते हैं, अत: एकान्त रूप में केवल नियति को मानना सर्वथा दोषयुक्त है।

**अज्ञानवाद स्वरूप**[४८] – शास्त्रकार एकान्तवादी, संशयवादी तथा अज्ञानमिथ्यात्वग्रस्त अन्य दार्शनिकों को वन्यमृग की संज्ञा देते हुये एवं अनेकान्तवाद के परिप्रेक्ष्य में उनके सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुये कहते हैं कि एकान्तवादी, अज्ञानमिथ्यात्वयुक्त अनार्य श्रमण सम्यग्ज्ञान, दर्शन व चारित्र से पूर्णत: रहित हैं। वे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, अहिंसा, सत्य, अनेकान्त, अपरिग्रह आदि संदर्भों से शंकाकुल होकर उनसे दूर भागते हैं।[४९] सद्धर्मप्ररूपक वीतराग के सान्निध्य से कतराते हैं। सद्धर्मप्ररूपक शास्त्रों पर शंका करते हुये हिंसा, असत्य, मिथ्यात्व, एकान्तवाद या विषय कषायादि से युक्त अधर्म प्ररूपणा को नि:शंक होकर ग्रहण करते हैं तथा अधर्म प्ररूपकों की स्थापना करते हैं। यज्ञ और पशुबलिजनित घोर हिंसा की देशना वाले शास्त्रों को जिनमें कामनायुक्त कर्मकाण्डों का विधान और हिंसा जनक कार्यों की प्रेरणा है, नि:शंक भाव से स्वीकार करते है। घोर पापकर्म में आबद्ध ऐसे लोग इस जन्म-मरण रूप संसार में बार–बार आवागमन करते रहते हैं। अज्ञानग्रस्त एवं सन्मार्ग-अभिज्ञ ऐसे अज्ञानवादियों के संसर्ग में आने वाले दिशामूढ़ हैं एवं दु:ख को प्राप्त होंगे। संजय वेलट्ठिपुत्त[५०] के अनुसार तत्त्व विषयक अज्ञेयता या अनिश्चितता ही अज्ञानवाद की आधारशिला है।

अज्ञानवादियों के संदर्भ में दो प्रकार के मत मिलते हैं– एक तो वे अज्ञानवादी हैं जो स्वयं के अल्पमिथ्याज्ञान से गर्वोन्मत्त होकर समस्त ज्ञान को अपनी विरासत मानते हैं, जबकि यथार्थत: उनका ज्ञान केवल पल्लवग्राही होता है। ये तथाकथित शास्त्रज्ञानी वीतराग सर्वज्ञ की अनेकान्तरूप तत्त्वज्ञान से युक्त, सापेक्षवाद से ओतप्रोत वाणी को गलत समझकर एवं उसे संशयवाद की संज्ञा देकर ठुकरा देते हैं।[५१]

दूसरे अज्ञानवादी अज्ञान को ही श्रेयस्कर मानते हैं। उनके मत में ज्ञानाभाव में वाद–विवाद, वितण्डा, संघर्ष, कलह,अहंकार, कषाय आदि के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रपंच से वे मन में राग–द्वेषादि उत्पन्न न होने देने का सबसे सरल उपाय ज्ञान–प्रवृत्ति को छोड़कर अज्ञान में ही लीन रहना मानते हैं। अज्ञान को श्रेयस्कर मानने वाले अज्ञानवादी सभी यथार्थ ज्ञानों से दूर रहना चाहते हैं–
**सबसे भले मूढ, जिन्हें न व्यापै जगत गति।**

**क्रियावाद या कर्मोपचय निषेधवाद**[५२]– बौद्ध दर्शन को सामान्यतया अक्रियावादी दर्शन कहा गया है। बौद्धग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय के तृतीय भाग अट्ठक निपात के सिंहसुत्त में तथा विनयपिटक के महावग्ग की सिंहसेनापतिवत्थु में बुद्ध के अक्रियावादी होने के उल्लेख है।[५३] सूत्रकृतांग के बारहवें समवसरण अध्ययन में सूत्र ५३५ की चूर्णि एवं वृत्ति में बौद्धों को कहीं अक्रियावादी एवं कहीं क्रियावादी– दोनों कहा गया है, किन्तु इस विरोध का परिहार करते हुये कहा गया है कि यह अपेक्षाभेद से है। क्रियावादी केवल चैत्यकर्म किये जाने वाले (चित्तविशुद्धिपूर्वक) किसी भी कर्म आदि क्रिया को प्रधान रूप से मोक्ष का अंग मानते हैं। बौद्ध चित्तशुद्धिपूर्वक सम्पन्न प्रभूत हिंसायुक्त क्रिया को एवं अज्ञानादि से किये गये निम्न चार प्रकार के कर्मोपचय को बन्ध का कारण नहीं मानते और कर्मचिन्ता से परे रहते हैं।

1. **परिज्ञोपचित कर्म**– जानते हुए भी कोपादि या क्रोधवश शरीर से अकृत, केवल मन से चिंतित हिंसादि कर्म।
2. **अविज्ञोपचित कर्म**–अज्ञानवश शरीर से सम्पन्न हिंसादि कर्म।
3. **ईर्यापथ कर्म**– मार्ग में जाते समय अनभिसंधि से होने वाला हिंसादि कर्म।
4. **स्वप्नान्तिक कर्म**– स्वप्न में होने वाले हिंसादि कर्म।

बौद्धों के अनुसार ऐसे कर्मों से पुरुष स्पृष्ट होता है, बद्ध नहीं, क्योंकि ये चारों कर्म स्पर्श के बाद ही नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये बौद्ध इन कर्मग्रन्थियों से निश्चिन्त होकर क्रियाएँ करते है।[५४] बौद्ध राग–द्वेष रहित बुद्धिपूर्वक या विशुद्ध मन से हुये शारीरिक प्राणातिपात को भावविशुद्धि होने के कारण कर्मोपचय नहीं मानते।[५५] बौद्धग्रन्थ सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय बालोवाद जातक में बुद्ध कहते भी हैं कि– विपत्ति के समय पिता द्वारा पुत्र का वध कर स्वयं उसका भक्षण तथा मेधावी भिक्षु द्वारा उक्त मांशासन पापकर्म का कारण नहीं है।

सूत्रकार बौद्धों के तर्क को असंगत मानते हैं क्योंकि राग–द्वेषादि ये युक्त चित्त के बिना मारने की क्रिया हो ही नहीं सकती। मैं पुत्र को मारता हूँ ऐसे चित्तपरिणाम को कथमपि असंक्लिष्ट नहीं माना जा सकता।[५६]

अत: कर्मोपचय निषेधवादी बौद्ध कर्मचिन्ता से रहित हैं तथा संयम एवं संवर के विचार से किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते, ऐसा शास्त्रकार का बौद्धों पर आक्षेप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**जगत्कर्तृत्ववाद**[५७] —सूत्रकृतांग में जगत् की रचना के संदर्भ में अज्ञानवादियों के प्रमुख सात मतों का निरूपण किया गया है[५८] —

१. किसी देव द्वारा कृत, संरक्षित एवं बोया हुआ।

२. ब्रह्मा द्वारा रचित, रक्षित या उत्पन्न।

३. ईश्वर द्वारा रचित।

४. यह लोक प्रकृति-कृत है।

५. स्वयंभूकृत लोक।

६. यमराज (मार—मृत्यु) रचित जगत् माया है, अत: अनित्य है।

७. लोक अण्डे से उत्पन्न है।

शास्त्रकार की दृष्टि में ये समस्त जगत्कर्तृत्ववादी परामर्श से अनभिज्ञ, मृषावादी एवं स्वयुक्तियों के आधार पर अविनाशी जगत् को विनाशी, एकान्त व अनित्य बताने वाले हैं। वास्तव में लोक या जगत का कभी नाश नहीं होता क्योंकि द्रव्य रूप से यह सदैव स्थिर रहता है। यह लोक अतीत में था, वर्तमान में है। वास्तव में लोक या जगत का कभी नाश नहीं होता, क्योंकि द्रव्य रूप से यह सदैव स्थिर रहता है। यह लोक अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। यह सर्वथा अयुक्तियुक्त मान्यता है कि किसी देव, ब्रह्मा, ईश्वर, प्रकृति, विष्णु या शिव ने सृष्टि की रचना की, क्योंकि यदि कृत होता तो सदैव नाशवान होता, परन्तु लोक एकान्तत: ऐसा नहीं है। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे अपने—अपने मान्य आराध्य द्वारा लोक का कर्तृत्व सिद्ध किया जा सके। ईश्वर कर्तृत्ववादियों ने घटरूप कार्य के कर्ता कुम्हार की तरह ईश्वर को जगत् का कर्ता सिद्ध करने का प्रयास किया है, परन्तु लोक द्रव्यरूप से नित्य होने के कारण कार्य है ही नहीं। पर्याय रूप से अनित्य है, परन्तु कार्य का कर्ता के साथ कोई अविनाभाव नहीं है। जीव व अजीव अनादिकाल से स्वभाव में स्थित हैं। वे न कभी नष्ट होते हैं न ही विनाश को प्राप्त होते हैं— उनमें मात्र अवस्थाओं का परिवर्तन होता है। स्वकृत अशुभ अनुष्ठान या कर्म से दु:ख एवं शुद्ध धर्मानुष्ठान से सुख की उत्पत्ति होती है। दूसरा कोई देव, ब्रह्मा, विष्णु आदि किसी को सुख—दु:ख से युक्त नहीं कर सकता।[५९]

**अवतारवाद**[६०] — नियतिवाद की भांति अवतारवाद मत भी आजीवकों का है। समवायांग वृत्ति और सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध के छठे अध्ययन में त्रैराशिकों को आजीवक या गोशालक मतानुसारी बताया गया है, ये आत्मा की तीन अवस्थाएँ मानते हैं—

१. रागद्वेष रहित कर्मबन्धन से युक्त पाप सहित अशुद्ध आत्मा की अवस्था।

२. अशुद्ध अवस्था से मुक्ति हेतु शुद्ध आचरण द्वारा शुद्ध निष्पाप अवस्था प्राप्त करना तदनुसार मुक्ति में पहुंच जाना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. शुद्ध निष्पाप आत्मा क्रीड़ा, राग—द्वेष के कारण उसी प्रकार पुनः कर्म रज से लिप्त हो जाता है जैसे—मटमैले जल को फिटकरी आदि से स्वच्छ कर लिया ज़ाता है, परन्तु आंधी तूफान से उड़ाई गयी रेत व मिट्टी के कारण वह पुनः मलिन हो जाता है।[६१]

इस तरह आत्मा मुक्ति प्राप्त कर भी क्रीड़ा और प्रदोष के कारण संसार में अवतरित होता है। वह अपने धर्मशासन की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए रजोगुण युक्त होकर अवतार लेता है।[६२] यही तथ्य गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है— हे भारत! जब—जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब—तब मैं ही अपने रूप को रचता हूँ, साधु—पुरुषों की रक्षा तथा पापकर्म करने वालों का विनाश एवं धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिये युग—युग में प्रकट हुआ करता हूँ।[६३]

सूत्रकार अवतारवाद का खंडन करते हुए कहते हैं कि जो आत्मा एक बार कर्ममल से सर्वथा रहित हो चुका है, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं निष्पाप हो चुका है, वह पुनः अशुद्ध कर्मफल युक्त और पापयुक्त कैसे हो सकता है? जैसे बीज के जल जाने पर उससे अंकुर उत्पन्न होना असम्भव है, वैसे ही कर्मबीज के जल जाने पर फिर जन्ममरण रूप अंकुर का फूटना असंभव है और फिर इस बात को तो गीता भी मानती है—

**मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।**
**नाप्नुवन्ति महात्मनः संसिद्धिं परमां गताः।।**
**मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते।।**[६४]

'कीडापदोसेण' कहकर अवतारवादी जो अवतार का कारण बतलाते हैं उसकी संगति गीता से बैठती है, क्योंकि अवतरित होने वाला भगवान दुष्टों का नाश करता है तब अपने भक्त की रक्षा के लिए हर संभव प्रयत्न करता है और ऐसा करने में उनमें द्वेष एवं राग का होना स्वाभाविक है।

**स्व—स्व प्रवाद प्रशंसा एवं सिद्धि का दावा**[६५] – सूत्रकार के अनुसार जगत्कर्तृत्ववादी आजीवक कार्य-कारणविहीन एवं युक्तिरहित अपने ही मतवाद की प्रशंसा करते हैं। वे सिद्धिवादी स्वकल्पित सिद्धि को ही केन्द्र मानकर उसी से इहलौकिक एवं पारलौकिक सिद्धि को सिद्ध करने के लिये युक्तियों की खींचतान करते हैं। परन्तु जो दार्शनिक मात्र ज्ञान या क्रिया से अष्टभौतिक ऐश्वर्य, अन्य लौकिक एवं यौगिक उपलब्धियों से मुक्ति मानते हैं वे सच्चे अर्थ में संवृत्त नहीं हैं। वस्तुतः वे स्वयं को सिद्धि से भी उत्कृष्ट ज्ञानी, मुक्तिदाता व तपस्वी कहकर अनेक भोले लोगों को भ्रमित करते हैं। फलतः वे मतवादी इन तीन दुष्फलों को प्राप्त करते हैं— १. अनादि संसार में बार-बार परिभ्रमण २. दीर्घकाल पर्यन्त भवनपति देव (असुर) योनि में एवं ३. अल्प ऋद्धि, आयु तथा शक्ति से युक्त अधम किल्विषिक देव के रूप में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पत्ति।

**परवादी निरसन**[६६]– इन्द्रियसुखोपभोग एवं स्वसिद्धान्त को सर्वोपरि मानने वाले दार्शनिक मतवादों की ग्रन्थकार भर्त्सना करते हुए कहते हैं कि ये एकान्त दर्शनों, दृष्टियों, वादों को सत्य मानकर उनकी शरण लेकर एवं कर्मबंधों से निश्चिन्त होकर एवं पाप कर्मों में आसक्त होकर आचरण करते हैं। इनकी गति संसार–सागर पार होने की आशा में मिथ्यात्व, अविरति आदि छिद्रों के कारण कर्मजल प्रविष्ट हो जाने वाली मिथ्यादृष्टियुक्त मत-नौका में आरूढ़ मतमोहान्ध व्यक्ति की होती है जो बीच में ही डूब जाते हैं[६७] अर्थात् मिथ्यात्वयुक्त-मत सछिद्र नौका के समान है और इसका आचरण करने वाला व्यक्ति जन्मान्ध के समान है।

**लोकवाद समीक्षा**– लोकवादियों का तात्पर्य पौराणिक मतवादियों से है। महावीर के युग में पौराणिकों का बहुत जोर था। लोग पौराणिकों को सर्वज्ञ मानते थे, उनसे आगम–निगम, लोक–परलोक के रहस्य, प्राणी के मरणोत्तर दशा की अथवा प्रत्यक्ष दृश्यमान लोक की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय की बहुत चर्चाएं करते थे।[६८] भगवान महावीर के युग में पूरणकाश्यप, मंक्खलिगोशाल, अजितकेशकम्बल, पकुद्धकात्यायन, गौतमबुद्ध, संजयवेलट्ठिपुत्त एवं कई तीर्थंकर थे जो सर्वज्ञ कहे जाते थे।[६९] शास्त्रकार ने इन मतवादियों के सिद्धान्त पर निम्न दृष्टियों से विचार किया है– १. लोकवाद कितना हेय व उपादेय है, २. यह लोक अनन्त, नित्य एवं शाश्वत है या अविनाशी है या अन्तवान किन्तु नित्य है। ३. क्या पौराणिकों आदि का अवतार लोकवादी है एवं ४. त्रस, त्रस योनि में ही और स्थावर, स्थावर योनि में ही संक्रमण करते हैं।

**लोकवादी मान्यता का खण्डन**

लोकवादियों की मान्यता कि लोक अनन्त, नित्य, शाश्वत एवं अविनाशी है, का खण्डन करते हुए जैनदार्शनिक कहते हैं कि यदि लोकगत पदार्थों को कूटस्थ नित्य (विनाश रहित स्थिर) मानते हैं तो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है, क्योंकि इस जगत् में जड़–चेतन कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो प्रतिक्षण परिवर्तनशील न हो, पर्याय रूप से वह सदैव उत्पन्न व विनष्ट होते दीखता है। अतः लोकगत पदार्थ सर्वथा कूटस्थ नित्य नहीं हो सकते। दूसरे लोकवादियों की यह मान्यता सर्वथा अयुक्त है कि त्रस सदैव त्रस पदार्थ में ही उत्पन्न होता है, पुरुष, मरणोपरान्त पुरुष एवं स्त्री मरणोपरान्त स्त्री ही होती है। आचारांग सूत्र[७०] में कहा गया है कि स्थावर जीव त्रस के रूप में और त्रस जीव स्थावर के रूप में अथवा संसारी जीव सभी योनियों में उत्पन्न हो सकते हैं। अज्ञानी जीव अपने–अपने कर्मों से पृथक्–पृथक् रूप रचते हैं। यदि लोकवाद को सत्य माना जाय कि जो इस जगत् में जैसा है, वह उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्म में वैसा ही होगा, तो दान अध्ययन, जप—तप, अनुष्ठान व्यर्थ हो जायेंगे, फिर भला क्यों कोई दान करेगा या यम-नियमादि की साधना करेगा।

**आधाकर्मदोष**[७१]—सूत्रकृतांग की ६० से ६३ तक की गाथाएं निर्ग्रन्थ आहार से संबद्ध हैं। श्रमणाहार के प्रसंग में इसमें आधाकर्मदोष से दूषित आहार-सेवन से हानि एवं आहारसेवी की दुर्दशा का निरूपण किया है। यदि साधु का आहार आधाकर्मदोष से दूषित होगा तो वह हिंसा का भागी तो होगा ही, साथ ही उसके विचार, संस्कार एवं उसका अन्तःकरण निर्बल हो जायेगा। दूषित आहार से साधु के सुखशील, कषाययुक्त एवं प्रमादी बन जाने का खतरा है। आधाकर्मी आहार ग्राही साधु गाढ़ कर्मबन्धन के फलस्वरूप नरक, तिर्यंच आदि योनियों में जाकर दुःख भोगते हैं। उनकी दुर्दशा वैसी ही होती है जैसे बाढ़ के जल के प्रभाव से प्रक्षिप्त सूखे व गीले स्थान पर पहुंची हुई वैशालिक मत्स्य को मांसार्थी डंक व कंक (क्रमशः चील व गिद्ध) पक्षी सता—सताकर दुःख पहुंचाते हैं।[७२] वर्तमान सुख के अभिलाषी कई श्रमण वैशालिक मत्स्य के समान अनन्तबार दुःख व विनाश को प्राप्त होते हैं।

**मुनिधर्मोपदेश**[७३]— सूत्रकृतांग की ७६ से ७९ तक की गाथाओं में शास्त्रकार ने निर्ग्रन्थ हेतु संयम, धर्म एवं स्वकर्त्तव्य बोध का इस प्रकार निरूपण किया है—

१. पूर्वसंबंध त्यागी, अन्ययूथिक साधु, गृहस्थ को समारम्भयुक्त कृत्यों का उपदेश देने के कारण शरण ग्रहण करने योग्य नहीं है।
२. विद्वान मुनि उन्हें जानकर उनसे आसक्तिजनक संसर्ग न रखे।
३. परिग्रह एवं हिंसा से मोक्ष-प्राप्ति मानने वाले प्रव्रज्याधारियों का संसर्ग छोड़कर निष्परिग्रही, निरारम्भ महात्माओं की शरण में जाये।
४. आहारसंबंधी ग्रासैषणा, ग्रहणैषणा, परिभोगैषणा, आसक्तिरहित एवं रागद्वेषमुक्त होकर करे।

**अहिंसाधर्म निरूपण**[७४] – अहिंसा को यदि जैन धर्म-दर्शन का मेरुदण्ड कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसलिए जैनागमों में अहिंसा की विस्तृत चर्चा की गई है। सूत्रकार ने भी कूछ सूत्रों में अहिंसा का निरूपण किया है। संसार के समस्त प्राणी अहिंस्य हैं, क्योंकि—

१. इस दृश्यमान त्रस स्थावर रूप जगत् की मन, वचन, काय की प्रवृत्तियां अथवा बाल, यौवन, वृद्धत्व आदि अवस्थाएँ स्थूल हैं, प्रत्यक्ष हैं।
२. स्थावर जंगम सभी प्राणियों की पर्याय अवस्थाएं सदा एक सी नहीं रहती।
३. सभी प्राणी शारीरिक, मानसिक दुःखों से पीड़ित हैं अर्थात् सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है।

उपर्युक्त मत पर शंका व्यक्त करते हुए कुछ मतवादी आत्मा में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई परिवर्तन नहीं मानते, आत्मा की बाल्यादि अवस्थाएँ नहीं होती, न ही सुख–दुःख होते हैं इसलिए किसी जीव का वध करने से या पीड़ा देने से कोई हिंसा नहीं होती।

शास्त्रकार उक्त मत को असंगत बताते हैं क्योंकि समस्त प्राणियों की विविध चेष्टाएँ तथा बाल्यादि अवस्थाएँ प्रत्यक्ष हैं, प्राणिमात्र मरणधर्मा है। एक शरीर नष्ट होने पर स्वकर्मानुसार मनुष्य तिर्यंच, नरकादि योनियों में परिभ्रमित होता है एवं एक पर्याय से दूसरे पर्याय में बदलने पर जरा, मृत्यु, शारीरिक–मानसिक चिंता, संताप आदि नाना दुःख भोगता है जो प्राणियों को सर्वथा अप्रिय हैं। इसलिए स्वाभाविक है कि जब कोई किसी प्राणी को सतायेगा, पीड़ा पहुँचायेगा, प्राणों से रहित कर देगा तो उसे दुःखानुभव अवश्य होगा। इसीलिए शास्त्रकार ने इन्हीं तीन स्थूल कारणों को प्रस्तुत कर किसी भी प्राणी की हिंसा न करने को कहा है।

## चारित्र शुद्धि के लिए उपदेश[७५]

प्रथम अध्ययन के अंतिम तीन सूत्रों में कर्मबन्धनों को तोड़ने के लिये चारित्र-शुद्धि का उपदेश दिया गया है। वास्तव में ज्ञान, दर्शन, चारित्र अथवा त्रिरत्न समन्वित रूप में मोक्षमार्ग के अवरोधक कर्मबंधनों से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है। हिंसादि पाँच आस्रवों से अविरति, प्रमाद, कषाय और मन, वचन, काय रूपी योग का दुरुपयोग– ये चारित्र दोष के कारण हैं और कर्मबन्धन के भी कारण हैं। चारित्रशुद्धि से आत्मशुद्धि होती है। उमास्वाति[७६] एवं उनके तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारों ने १. गुप्ति २. समिति ३. धर्म ४. अनुप्रेक्षा ५. परीषहजय ६. चारित्र व ७. तप को संवर का कारण माना है। इसी प्रकार चारित्र शुद्धि के परिप्रेक्ष्य में दस विवेक सूत्रों का निर्देश किया है जो तीन गाथाओं में इस प्रकार अन्तर्निहित हैं–

१. साधक दस प्रकार की समाचारी में स्थित रहे।
२. उसकी आहार आदि में गृद्धता-आसक्ति न रहे।
३. अप्रमत्त होकर अपनी आत्मा का या रत्नत्रय का संरक्षण करे।
४. गमनागमन, आसन, शयन, खानपान में विवेक रखे।
५. पूर्वोक्त तीनों स्थानों, समितियों अथवा इनके मन, वचन, काय गुप्ति रूपी तीन स्थानों में मुनि सतत संयत रहे।
६. क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों का परित्याग करे।
७. सदा पंचसमिति (ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेप समिति और उत्सर्ग समिति) से युक्त अथवा सदा समभाव में प्रवृत्त होकर रहे।
८. प्राणातिपातादि-विरमण रूप पंचमहाव्रत रूप संवरों से युक्त रहे।
९. भिक्षाशील साधु गार्हस्थ्य बंधनों से बंधे हुए गृहस्थों से आसक्तिपूर्वक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंधा हुआ न रहे।

१०. मोक्ष प्राप्त होने तक संयमानुष्ठान में प्रगति करे एवं अडिग रहे। चूंकि चारित्र कर्मास्रव के निरोध का, परम संवर का एवं मोक्षमार्ग का साक्षात् और प्रधान कारण है इसलिए सूत्रकार ने चारित्र शुद्धि के लिये उपदेश दिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकृतांग (प्रथम अध्ययन के प्रथम से लेकर चौथे उद्देशक तक) में भारतीय दर्शन में वर्णित प्रायः सभी मतवादों का कुशल समावेश कर उनकी मीमांसा की गई है। ऐसा कोई मतवाद नहीं है जिसे सूत्रकार की पैनी दृष्टि ने स्पर्श न किया हो। यद्यपि सूत्रकार ने किसी भी सम्प्रदाय विशेष का नामोल्लेख नहीं किया है, केवल उनके दार्शनिक मन्तव्यों को ही आधार मानकर स्वपक्षमण्डन व परपक्ष निरसन किया है, फिर भी वह अपने उद्देश्य में सर्वथा सफल रहा है। सम्प्रदायों का स्पष्ट नामोल्लेख न मिलने का कारण बहुत कुछ सीमा तक उन—उन मतवादों का उस समय तक पूर्णरूपेण विकसित न होना माना जा सकता है। बाद के टीकाकारों व निर्युक्तिकारों ने दार्शनिक मन्तव्यों का सम्प्रदाय विशेष सहित उल्लेख किया है।

जहाँ तक इसमें अन्तर्निहित दार्शनिक विवेचना का प्रश्न है, सूत्रकार ने जिन मतवादों का उल्लेख किया है, उन्हें अपने अनेकान्तवाद व कर्मवादप्रवण अहिंसा की कसौटी पर कसते हुए यही बताने का प्रयास किया है, कि चाहे वह वैदिक दर्शन का कूटस्थ आत्मवाद हो, बौद्धों का क्षणिकवाद हो, लोकायतों का भौतिकवाद हो, सांख्यों का अकर्तावाद हो या नियतिवादियों का नियतिवाद हो— कोई भी दर्शन हमारे सतत अनुभव, व्यक्तित्व की एकता एवं हमारे चेतनामय जीवन की, जो सतत परिवर्तनशील है, सम्पूर्ण दृष्टि से समुचित व्याख्या नहीं कर पाता। यह जैनदर्शन की अनेकान्तवादी दृष्टि ही है जो एकान्त शाश्वतवाद एवं एकान्त उच्छेदवाद के मध्य आनुभाविक स्तर पर एक यथार्थ समन्वय प्रस्तुत कर सकती है तथा नैतिक एवं धार्मिक जीवन की तर्कसंगत व्याख्या कर सकती है।

## संदर्भ

१. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा—१८—२० तथा उनकी शीलांक वृत्ति
२. सूत्रकृतांग गाथा १ (सं. व अनु. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२)
३. उत्तराध्ययनसूत्र ८.१५
४. बध्यतेऽनेन बंधनमात्रं वा बंधः—तत्त्वार्थवार्तिक भाग१, पृ. २६, भट्ट अकलंकदेव, सम्पा. महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी वि.नि. सं. २४९९
५. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंधः। —तत्त्वार्थ सूत्र ८.२
६. पं. सुखलाल संघवी, भारत जैन महामण्डल, वर्धा १९५२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. तत्वार्थवार्तिक—२.१०.२ पृ.१२४
८. आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः। —सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपादाचार्य सं. व अनु. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथमावृत्ति सन् १९५५) १.४ पृ.१४
९. क्रोधादिपरिणामवशीकृतो भावबन्धः—तत्त्वार्थवार्तिक—२.१०.२, पृ.१२४
१०. द्रव्यसंग्रह नेमिचन्द्राचार्य, प्रका. श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल वि. नि. सं. २४३३
११. समयसार (आत्मख्याति—तात्पर्यवृत्ति भाषावचनिका टीका सहित) कुन्दकुन्दाचार्य, सम्पा. पन्नालाल जैन, प्रकाशक परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बोरिया, द्वितीयावृत्ति, सन् १९७४ गाथा १५३, आत्मख्याति टीका—गाथा १५३
१२. तं—मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं। —भगवतीआराधना, गाथा ५६, आचार्य शिवकोटि (सम्पा. सखाराम दोषी, जीवराज जैन, ग्रन्थमाला शोलापुर प्र.सं. सन् १९३५)
१३. सर्वार्थसिद्धि—७/९
१४. धवला, वीरसेन, खं.२ भाग १ सूत्र ७ पृ.७ (हिन्दी अनुवाद सहित अमरावती प्र.सं. १९३९—५९)
१५. सर्वार्थसिद्धि ६/४, पृ.३२०
१६. सर्वार्थसिद्धि—२/२६, पृ.१८३
१७. तत्त्वार्थ सूत्र ९/१
१८. पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा—भगवतीआराधना, गाथा १८४७
१९. सर्वदर्शनसंग्रह—माधवाचार्य, पृ.१० (चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी)
२०. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ३३
२१. सूत्रकृतांग २.१.६५७
२२. सूत्रकृतांग—१.१.११—१२, पृ.२५
२३. वही, पृ. २६
२४. वही, पृ. २६
२५. प्रमेयरत्नमाला ४.८, पृ. २९६ (लघुअनन्तवीर्य, व्याख्याकार, सम्पा. हीरालाल जैन, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी—वि.सं.२०२०)
२६. शास्त्रवार्तासमुच्चय—१.६५—६६, हरभिद्रसूरि, भारतीयसंस्कृतिविद्या मन्दिर (अहमदाबाद—१९६९) तत्त्वार्थवार्तिक २.७.२७, पृ.११७।
२७. सूत्रकृतांग १.१.९—१०
२८. सर्वमेतदिदं ब्रह्म—छा.उ. ३.१४.१
ब्रह्मखल्विदं सर्वम्—मैत्रेय्युपनिषद् ४,६,३
२९. सूत्रकृतांग, १.१.१०
३०. सूत्रकृतांग १.१.१३—१४
३१. अमूर्त्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कपिलदर्शने। षड्दर्शन समुच्चय। (गुणरत्नसूरिकृत रहस्यदीपिका सहित)) हरभिद्रसूरि, सं. महेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी १९७०
३२. तत्त्वार्थवार्तिक २।१०१
३३. सन्ति पंचमहब्भूता इहमेगेसिं आहिता।
आयछट्ठा पुणेगाऽऽहु आया लोगे य सासते।—सूत्रकृतांग सूत्र १.१.१५
३४. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः। भगवद्गीता २.१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५. असदकरणादुपानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।। सां.का. ९
(गौड़पाद भाष्य) :ईश्वर—कृष्ण, ह.कृ.चौ.काशी, वि.सं. १९७९
३६. सूत्रकृतांग की शीलांकवृत्ति पत्रांक २४—२५
३७. सूत्रकृतांग सूत्र १.१.१७—१८
३८. दीघनिकाय १.१ (अनुवाद—भिक्षु राहुल सांकृत्यायन एवं जगदीश कश्यप, प्रका. भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्, बुद्धविहार, लखनऊ)
३९. मज्झिमनिकाय—१.१.२
४०. ...पुन च परं भिक्खवे, भिक्खु, इममेवं कायं यथाठितं यथापणिहितं धातुसोपच्च्यवेक्खति—अत्थि इमस्मिकाये पथवी धातु, आपोधातु, तेजोधातु, वायुधातु ति सुत्तपिटक मज्जि. पालि भाग ३, पृ. १५३
४१. सूत्रकृतांग—१.१.१९—२७
४२. तेणाविमं संधिं णच्चा णं ण ते धम्मविउजणा।
जे तु वाइणो एवं ण ते आहंतराऽऽहिया।।वही १.१.२०
४३. सूत्रकृतांग, शीलांक वृत्ति २८
४४. सूत्रकृतांगसूत्र १.२.२८—३१, गोम्मटसार कर्मकाण्ड—८९२ (प्रकाशक परश्रुमत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई, वी.नि.सं.२४५३)
४५. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग २, पृ. १३८
४६. नियतेनैव भावेन सर्वे भावा भवन्ति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधत:।।—शास्त्रवार्तासमुच्चय २.६१
४७. कर्म का जिस रूप में बंध हुआ उसको उसी रूप में भोगना अर्थात् उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण और उदीरणा अवस्थाओं का न होना निकाचित कर्मावस्था कहलाती है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ४४०
४८. सूत्रकृतांगसूत्र १.२.३३—५०
४९. जाविणो मिगा जहासंत्ता परिताणेणतज्जिया,
असंकियाइं संकंति संकियाइं असंकिणो। वही १.२.३३
५०. वही, पृ. ५१
५१. सूत्रकृतांग सूत्र पृ. ३३
५२. वही १.२.५१—५६
५३. अहं हि सीह। अकिरियं वंदामि कापदुच्चरितस्स वचीदुच्चरतिस्य, मनोदुच्चरितस्य अनेक विहितानां पापकानं अकुसलानं अकिरियं वंदामि। सुत्तपिटके अंगुत्तर निकाय, पालि भाग ३, अट्ठकनिपात पृ. २९३—९६
५४. सूत्रकृतांगचूर्णि मू.पा. टि. पृ.९
५५. पुत्तं पिता समारंभ आहारट्ठ असंजये।
भुजमाणो वि मेहावी कम्मुणा णो व लिप्पते।।— सूत्रकृतांग १.२/५५
५६. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७—४०
५७. सूत्रकृतांगसूत्र—१.३.६४—६९
५८. वही पृ. ६७
५९. (१.) न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते।।—गीता ५.१४
(२) गीता शां.भा. ५.१४
६०. सूत्रकृतांगसूत्र—१.३.७०—७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६१. इह संवुडे मुणी जाये पच्छा होति अपावये।
वियडं व जहा भुज्जो नीरयं सरयं तहा।।—सूत्रकृतांगसूत्र १.३.७१

६२. स मोक्ष प्राप्तोऽपि भूत्वा कीलावणप्पदोसेण रजसा अवतारते।
सूयगडं चूर्णि मू.पा. टिप्पण पृ. १२

६३. (१) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत्।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।—गीता ४.१७
(२) वही ४.८

६४. भगवद्गीता ८.१५—१६

६५. सूत्रकृतांगसूत्र १.३.७२—७५

६६. सूत्रकृतांग १.२.५७—५९

६७. सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ. १९२—९६

६८. सूत्रकृतांग १.४.८०—८३

६९. वही पृ. ९२

७०. आचारांग १ श्रु.९ अ.१ गाथा ५४ (मूलअनुवाद विवेचन टिप्पण युक्त) सं. मधुकर मुनि, अनु. श्रीचन्द सुराणा 'सरस', आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

७१. सूत्रकृतांग—१.३.६०—६३

७२. उदगस्सऽप्पभावेणं सुक्कंमि घातमिंति उ।
ढंकेहि व कंकेहि य आमिसत्थेहि ते दुही।।— वही, १.३.६२

७३. वही—१.४.७६—७९

७४. सूत्रकृतांग सूत्र—१.४.८४—८५
उरालं जगओ जोयं विपरीयासं पलेति य।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य अतो सव्वे अहिंसिया।।
एतं खु णाणिणो सारं जं न हिंसति किंचण।
अहिंसा समयं चेव एतावंतं वियाणिया।।

७५. सूत्रकृतांग १२०.८६—८८

७६. तत्त्वार्थसूत्र ९.३

—पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई.टी.आई. रोड़
करौंदी, वाराणसी— 221005 (उ.प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org